

चौमासा

वर्ष-24 अंक-77
जुलाई-अक्टूबर, 2008



सम्पादक
डॉ. कपिल तिवारी

सहायक सम्पादक
अशोक मिश्र

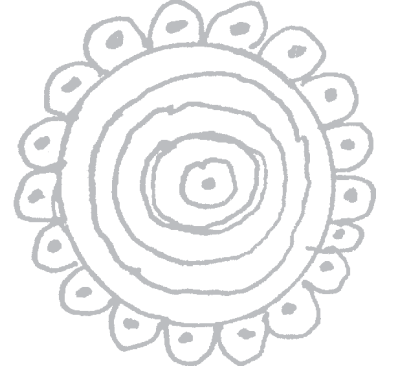


आदिवासी लोक कला एवं तुलसी साहित्य अकादेमी
मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, भोपाल का प्रकाशन

© स्वत्वाधिकार सुरक्षित

सम्पर्क

आदिवासी लोक कला एवं तुलसी साहित्य अकादेमी,
मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्
मुल्ला रमूजी संस्कृति भवन, आधार तल,
बाणगंगा, भोपाल-462003
www.mpculture.in ● E-mail : mplokkala@rediffmail.com



मूल्य

एक प्रति बीस रूपये
वार्षिक पचास रूपये
आजीवन सदस्यता पन्द्रह सौ रूपये
चौमासा का वार्षिक शुल्क अनुषंग पुस्तिका के साथ सौ रूपये

प्रचार/प्रसार

श्रीमती उर्मिला पारखे, प्रवीण गावण्डे

शब्दांकन

आदिवासी लोक कला एवं तुलसी साहित्य अकादेमी,
मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्

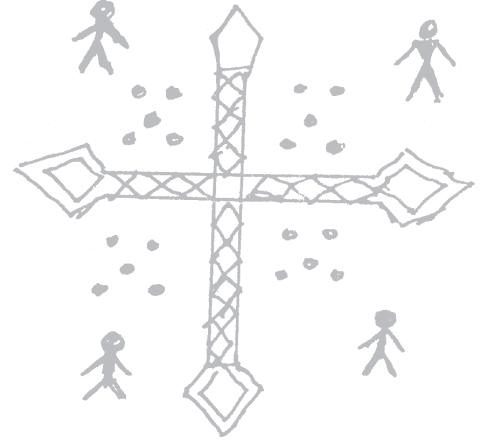
मुद्रण

शासकीय केन्द्रीय मुद्रणालय, भोपाल

- चौमासा में प्रकाशित सामग्री लेखकों के अपने कार्य और विचार हैं। आवश्यक नहीं कि अकादमी उससे सहमत हो।
- पत्रिका और प्रकाशन से संबंधित समस्त विवादों का न्यायालयीन कार्यक्षेत्र भोपाल रहेगा।

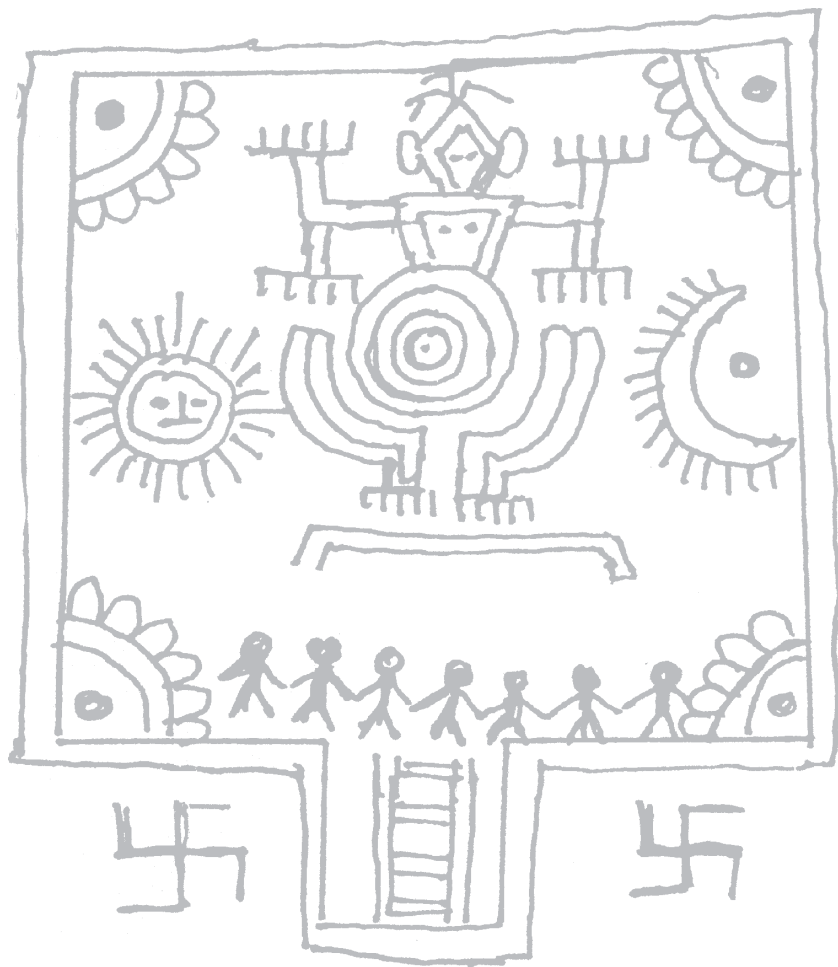
डॉ. कपिल तिवारी, निदेशक, आदिवासी लोक कला एवं तुलसी साहित्य अकादेमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, भोपाल सम्पादक, मुद्रक, प्रकाशक द्वारा शासकीय केन्द्रीय मुद्रणालय, मैदा मिल, भोपाल से मुद्रित कराकर आदिवासी लोक कला एवं तुलसी साहित्य अकादेमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, मुल्ला रमूजी संस्कृति भवन, आधार तल, बाणगंगा, भोपाल से प्रकाशित।

सम्पादक-डॉ. कपिल तिवारी



इस अंक में

- सिक्ख गुरुओं की संस्कृति साधना / आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी / 9
भारतीय देववाद : उद्भव और विकास / डॉ. महेन्द्र भानावत / 14
लोक देवी-देवता / वसन्त निरगुणे / 25
जनजातीय देवी-देवता / डॉ. अर्जुनदास केसरी / 38
गोंड जनजाति के देवी-देवता / दिनेश मिश्र / 42
लोकदेवता देवनारायण / डॉ. शैलेन्द्र कुमार शर्मा / 52
धरती की उत्पत्ति विषयक मान्यताएँ / डॉ. प्रतापसिंह चन्देल / 56
बुन्देली के देवी गीत / डॉ. (श्रीमती) गायत्री वाजपेयी / 63
देवी-देवताओं के मान गीत / डॉ. (श्रीमती) मंजुला जोशी / डॉ. गुलाब सिंह डाबर / 70
लोक देवता वचनवीर तेजाजी / राधाकृष्ण बावनिया / 83
निमाड़ के लोक देवता / रमेशचन्द्र तोमर 'निमाड़ी' / 86
लोक देवी काजल माता / महेश साकल्ले / 100
निमाड़ के देवी-देवता और परम्पराएँ / छोगालाल कुमरावत 'सुजस' / 106
लोकदेवता बाबा की उपासना / डॉ. सरला चोपड़ा / 124
बिहार का कार्तिक छठ महोत्सव / सुनीता श्रीवास्तव / 128
बज्जिकांचल के देवी-देवता / डॉ. ब्रजनन्दन वर्मा / 131
बंगला लोकदेवता / प्रो. हरिश्चन्द्र मिश्र / 136
ब्रज के देवी-देवता / डॉ. मालती शर्मा / 146
छत्तीसगढ़ के लोकगीत / निरंजन महावर / 150



पिछले पच्चीस वर्षों में अकादेमी ने अपनी पत्रिका 'चौमासा' के कुछ अंकों को विशेषांकों के रूप में प्रकाशित किया है, उनमें कथा, गाथा, आभूषण, गोदने, वृक्ष, जल, काल और आख्यान पर केन्द्रित अंकों में इन विषयों की अपनी समग्रता को लोक संस्कृति के पाठकों तक प्रस्तुत करना हमारा प्रायास था। इनमें कुछ लोक की भौतिक संस्कृति से संबंधित विषय थे और कुछ ऐसे भी जो अमूर्त और धारणात्मक होते हुए भी ऐसे प्रमुख कारक थे, जिनमें भौतिक संस्कृति संभव होती है। विषयों और रूपों की एक समग्रता में ही संस्कृति की समष्टि समझी जा सकती है, उसमें भौतिक सांस्कृतिक रूपों के साथ सूक्ष्म और अमूर्त धारणाओं, विश्वासों, आस्थाओं और शक्तियों को भी समझना आवश्यक है, जिनके कारण कोई भौतिक रूपाकार एक विशेष स्वरूप प्राप्त करता है। समय, क्षेत्र और सूक्ष्म प्रकृति तथा देवधारणाएँ ऐसे ही विषय हैं।

पिछले वर्षों में अकादेमी ने जनजातीय अध्ययन के क्षेत्र में मध्यप्रदेश की दो बड़ी और प्रमुख जनजातियों के देवलोक का सर्वेक्षण किया तथा हिन्दी और अंग्रेजी में इन अध्ययनों का प्रकाशन भी। यह सर्वेक्षण 'कोरकू' और 'गोंड' जनजाति के देवलोक पर केन्द्रित थे। इस क्रम में हमें 'लोक के देवलोक' का अध्ययन भी आवश्यक प्रतीत हुआ। 'चौमासा' का यह अंक एक विशेषांक के रूप में लोक देवी-देवता पर केन्द्रित है। भारतीय लोक संस्कृति का इस 'देवसृष्टि' से गहरा संबंध है। जैसे 'काल की भारतीय अवधारणा और स्वरूप' को समझे बिना हम पारम्परिक संस्कृति और ज्ञान की परम्परा को नहीं समझ सकते, उसी प्रकार लोक की देवसृष्टि को जाने बिना, लोक की सांस्कृतिक परम्परा और कलाओं में उसका प्रतिफलन समझना कठिन है। चित्रों में रूपायित और शिल्पों में आकार ग्रहण करने वाली लोक की रूपंकर कला परम्परा का सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण भाग वास्तव में लोक के देवी-देवता हैं, जिन्हें नहीं समझने के कारण हम शहरी क्षेत्रों में इस कला के अधिकांश को अलंकारिक शिल्प समझते हैं। मिट्टी, धातु, काष्ठ आदि माध्यमों में जो शिल्प, लोक कला परम्परा में बनते हैं, उनमें से अधिकांशतः विभिन्न अवसर-अनुष्ठानों, पर्वों-त्यौहारों पर पूजित और अर्पित किये जाने वाले देवी-देवता अथवा पवित्र शक्तियों से युक्त विभिन्न पशु-पक्षी हैं। इसका अर्थ हुआ कि वे लोक की एक सांस्कृतिक परम्परा से अभिन्न रूप से जुड़े हैं, जिसे समझे बगैर हम इस देवसृष्टि को नहीं समझ सकते।

दूसरा इस पूरी देव परम्परा के मूर्तिकरण और धारणाओं का लोक की वाचिक परम्परा से घनिष्ठ संबंध है। पर्व-त्यौहारों के अवसर पर चित्रांकन और देव स्वरूपों की पूजा विशेष कथाओं, गीतों और गाथाओं से जुड़ी है, उसके साथ कुछ विशेष अनुष्ठान और लोकाचार सम्पन्न किये जाते हैं। कुछ लोक देवी-देवता ऐसे हैं, जिनका कोई स्वरूप और मूर्तिकरण नहीं हुआ है, वे तत्त्वतः लोक स्मृति और आस्थाओं में बसने वाली देव और मातृशक्तियों की 'धारणाएँ' हैं और कुछ देवी-देवता ऐसे हैं, जिनका एक स्पष्ट स्वरूप है। धारणाओं में बसने वाले देवताओं और देवियों के साथ लोक जीवन में एक सुदीर्घ प्रतीकात्मकता विकसित हुई है, अर्थात् अभिप्रायों की एक विशाल परम्परा उनसे जुड़ी है। शब्द सृष्टि की भी सूक्ष्मता का एक संसार 'देव धारणाओं के अभिप्रायों' का भाग है। यहाँ 'शब्द सृष्टि की यह सूक्ष्मता विशेष' देव-देवी अथवा शक्तियों की धारणा से जुड़े संकल्पों को जाग्रत करने वाली 'मन्त्र सृष्टि' है। यह स्थूल शब्द अर्थ केन्द्रित भाषा का सर्वाधिक सूक्ष्म और प्रकाशित रूप है। भाषा किसी भी और रूप में इससे अधिक सूक्ष्म और अमूर्त नहीं की जा सकती, अपने परम काव्यबिंबों की सांगीतिकता में भी यह संभव नहीं है, क्योंकि यह अनुभूति भी एक सर्जक के भीतर अन्ततः 'सौन्दर्यानुभव' ही है, जबकि 'मन्त्र सृष्टि' में वह शक्तियों के जागरण का 'आध्यात्मिक' अनुभव, इसलिए हम सहज ही समझ सकते हैं कि यहाँ शब्द और उर्जा दो नहीं हैं, वे एक ही हैं, एक अर्थ में यह भाषा की सूक्ष्मता का अन्तिम सिरा है, शब्द-अर्थ के द्वैत में इसके बाद कुछ भी अभिव्यक्त करना संभव नहीं रह जाता।

तीसरे यह ध्यान देने योग्य है कि लोक के देवलोक में कुछ देवता हैं जो चित्रांकन का विषय हैं और कुछ शिल्प या मूर्ति का। तीज-त्यौहारों पर स्त्रियाँ लोक चित्रांकन करती हैं, यह एक पर्व से संबंधित विषयों की समष्टि है, किसी एक देवी या देवता का स्वरूप और सिर्फ उसी की पूजा और अनुष्ठान नहीं। इनमें सूर्य-चन्द्र, वृक्ष, पशु-पक्षी, देवता-मातृशक्तियाँ मनुष्य सब समवेत हैं। इनका चित्रांकन ही संभव है, यह शिल्प में संभव नहीं है। शिल्प के माध्यम में रूप बहुत हद तक स्थिर हैं, इनकी तुलना में रंगों-आकारों में जैसे एक तरलता है, उसमें बहा जा सकता है तथा दिव्य और लौकिक की एक समष्टि रची जा सकती है। अंकन और अभिव्यक्ति में इसके बाद हम फिर से शब्दों में ही लौट आते हैं, वह और अधिक तरल है, क्योंकि अपनी परम सूक्ष्मता में 'शब्द' 'प्रकाश' हो उठते हैं, यहाँ स्वरूपों और बिना स्वरूप की देव 'धारणाओं' को संकल्पपूर्वक जाग्रत किया जाता है। धारणा में बसने वाले देवता वास्तव में वाचिक विश्व का अंतिम छोर हैं। लोक में वाचिक गीत, कथा, गाथा ही नहीं, धारणाओं के रूप में देवता और मातृशक्तियाँ तक वाचिक होते हैं, वाचिक का एक छोर गीति और कथा रचना है तो अन्तिम सिरा धारणा में बसने वाला देवलोक और उनकी मन्त्रसृष्टि। वे 'गान से प्रकाश' तक शब्द में एक विशाल यात्रा करते हैं।

प्रसंगतः यहाँ हमें यह भी चर्चा करनी होगी कि देश की सुदीर्घ लोक परम्परा में प्रतीकों और अभिप्रायों का एक पूरा संसार धीरे-धीरे विकसित हुआ है, लेकिन 'तत्त्वबोध' के बिना कोई 'प्रतीक' क्या अर्थ रखता है? 'प्रतीक' और 'प्रतीकात्मकता' पर एक बार गंभीर विचार की आवश्यकता है। इस क्षेत्र में बहुत सरलीकरण किया गया है और वास्तविक अर्थ के कुपाठ भी। अभिप्राय 'कूट अर्थ' की संकेतात्मक ज्ञान परम्परा है, वे हर क्षेत्र और विषय में नहीं हो सकते। सांस्कृतिक अभिप्रायों (मोटिफ) तथा प्रतीकों का ज्ञान परम्परा से घनिष्ठ संबंध है। सम्वेदना और संज्ञान के क्षेत्र में 'अभिप्राय' 'अलंकारिक' नहीं हैं, वे मूलतः एक 'ज्ञानात्मक अर्थ समष्टि' हैं और एक परम्परा के सारे पक्षों और अर्थों को समझकर ही उनके 'कूट अर्थों' का सम्यक् प्रतिपादन किया जा सकता है।

जब हम लोक के देवलोक के अध्ययन और सर्वेक्षण की दिशा में अग्रसर होते हैं तो हम 'प्रतीकों' और 'अभिप्रायों' के संसार में भी प्रवेश करते हैं। यह किसी जातीय परम्परा के ज्ञान और सौंदर्यात्मक सर्जना का सबसे विशिष्ट रूप है, क्योंकि एक सुदीर्घ जीवन परम्परा की 'समष्टि चित्त' में वे सदियों में धीरे-धीरे अपने अर्थों के साथ हमारी स्मृति

का हिस्सा होते हैं, इनके बिना 'प्रतीक' अलंकारिक मात्र शेष रहते हैं, जिनका विशेष महत्त्व नहीं होता। देवताओं और मातृशक्तियों अथवा शुभ और अशुभ शक्तियों के स्वरूपों और धारणाओं के साथ भी एक प्रतीकात्मकता संबद्ध है और उसके अंकन और रूपायन में अभिप्रायों के अपने कूट अर्थ हैं, यद्यपि सौंदर्यशास्त्रीय परम्परा और आध्यात्मिक परम्परा में इनके अंकन से अर्थों के भिन्न पाठ नहीं किये जा सकते। ज्ञान और सौंदर्य की परम्परा, सांस्कृतिक परम्परा उसके जीवन में ही लय होती है।

'प्रतीक' और 'प्रतीकात्मकता' किसी जातीय परम्परा के अपने 'समष्टि चित्त' में स्वरूपों, शक्तियों और भाव तथा आस्थाओं अथवा वस्तु और विचारों में अर्थों का 'अकल्पनीय विस्तार' कर देती है। प्रत्येक 'चित्त' प्रतीक का अपना एक निजी अर्थ ग्रहण कर सकता है, जबकि वास्तव में उसका तात्त्विक अर्थ एक ही होता है- 'अभिप्राय' अथवा 'मोटिफ' की यात्रा चित्त में अर्थ की तात्त्विकता के 'घनत्व' और 'संकुचन' की है। समष्टि चित्त में प्रतीक जितने अर्थों का विस्तार कर देते हैं- 'अभिप्राय' में वे अर्थ सिमटने लगते हैं, जैसे एक मन्त्र की आवृत्ति उसे धीरे-धीरे एक 'बीज' शब्द में बदल देती है। शक्तियों और स्वरूपों, आस्थाओं और भावों को प्रकट करने वाले 'अभिप्राय' वास्तव में 'अर्थ-समष्टि' के 'बीज रूप' हैं।

जनजातीय देवलोक के अध्ययन के क्रम में यह स्पष्ट था कि उन समूहों अथवा समुदायों में 'प्रकृति' अविभाजित है- वह 'दिव्य' और 'लौकिक' प्रकृति में विभाजित नहीं है- इसी प्रकार वे 'समय' की ऐतिहासिक चेतना के बजाय 'प्राकृतिक समय' में जीते हैं। 'प्रकृति' और 'काल' की ये धारणाएँ जिस 'देवलोक' का निर्माण करती हैं, उसमें देवता-मातृशक्तियाँ और पितर मूलतः प्रकृति में ही वास करते हैं। किसी अलौकिक सूक्ष्म अदृश्य 'लोक' में नहीं, क्योंकि सारी प्रकृति 'दिव्य' और 'पवित्र' है। समय और प्रकृति के द्वैत वहाँ नहीं है, इसलिए स्थूल प्रकृति के 'ऋत' का काल और अपने तथा प्रकृति के अभेद ने वहाँ एक अलग ही प्रकार का देवलोक रच दिया है। जनजातीय चित्रांकन की समृद्ध परम्परा में, जिसमें जनजातीय देवता और मातृशक्तियाँ प्रकृति और पशु-पक्षी अधिकांशतः चित्रित किये जाते हैं। हम 'दिव्य' और 'लौकिक' का यह अभेद देख सकते हैं।

यह समूचा चित्रांकन 'भित्ति' अलंकरण है। आश्चर्य है कि जनजातीय समुदायों में लोक जीवन की तरह 'भूमि अलंकरण' नहीं पाया जाता, जिसमें ज्यामितीय संरचनाओं में सुन्दर रंग संयोजन करके देवताओं और पुरखों अथवा कुल देवियों के आगमन की स्वस्ति की जाती है, यदि सारी धरती ही देवताओं और शक्तियों का वास है तो अलग से भूमि के एक टुकड़े का अलंकरण क्या करना। 'देवता' दीवाल के आकाश में ही शोभित हो, यही अच्छा है।

लोक में प्रकृति विभाजित है। मनुष्य और प्रकृति अलग-अलग है, उसमें प्रकृति और उसकी शक्तियों और उपादानों की पूजा की जा सकती है, कृतज्ञ हुआ जा सकता है, धन्यता के गीत गाये जा सकते हैं, लेकिन अभिन्न नहीं हुआ जा सकता। हमें दिव्यता और पवित्रता के लिए प्रकृति और धरती से अलग एक 'लोक' की रचना करनी पड़ती है, जिसमें देवता और शक्तियाँ रहें, मनुष्य अपने लिए 'धरती' सुरक्षित कर लेता है और जब कभी उसे जरूरत पड़ती है, वह आकाश की ओर हाथ उठाकर 'देवों' का आह्वान कर लेता है।

यह 'प्राकृतिक समय' से भिन्न एक 'पौराणिक समय' है। देवताओं के समय और देवताओं की धरती के पुराण निर्मित होते हैं, देवताओं के जीवन की कथाएँ होती हैं। इस पुराण लोक में देवता अकेले नहीं रहते 'असुर' और 'दैत्य' भी होते हैं। 'पुरखों' के लिए 'मनुष्यों' की 'धरती' और देवताओं के 'लोक' के बीच में एक जगह बनानी पड़ती है। त्रिच में विभाजित काल और प्रकृति के गुण जैसे मनुष्य, पुरखों और देवताओं की तीन अलग धरती रच देते हैं।

‘लोक’ लौकिक रचना है, उसमें प्रकृति से अपने प्रयोजन पूरे किये जाते हैं, प्रकृति के समय से प्रतिकृत ‘समय’ का ‘बारहमासा’ उसका जीवन नियंत्रित करता है—यह प्रकृति के समय का ‘ऋत’ है— दिव्यता और पवित्रता के लिए पौराणिक समय है, जिसमें ‘कल्प’ और ‘मन्वन्तर’ हैं, प्रलय और पुनः सृष्टि है, नियति और प्रारब्ध है, मृत्यु और अपने किये धरे का न्याय है— स्वर्ग और नरक है, पाप और पुण्य है, जन्म और पुनर्जन्म है, जन्मों की यात्रा और यात्रा के संस्मरणों की ‘स्मृति’ है, जो नष्ट नहीं होती। ‘कृतज्ञता’ की पात्र ‘प्रकृति’ और ‘बारहमासा’ के समय में लोक का ‘जीवन’ और संस्कृति रची जाती है। असंख्य पौराणिक पूज्य ‘देवों और देवियों’ से इसका काम नहीं चलता, लोक अपने लिए ‘अपने रहने की धरती’ पर ही कुछ और देवताओं की रचना करने लगता है।

पशु पालक और कृषि समाजों का लोक अपने साथ यात्रा करते ‘सहचर’ चरितों और देवताओं को अपने आसपास रच देता है। ये देव उसके साथ रहते हैं, उसके गाँव के क्षेत्रपाल होते हैं— बीमार पशु को स्वस्थ कर देते हैं, सर्पदंश के काल से बचा लेते हैं, चेचक की महामारी से त्राण दिलाते हैं, अच्छी फसल का वरदान देते हैं, मांगने पर धन और संतान देते हैं। लोक की नश्वरता में ‘मोक्ष’ के बजाय ‘संसार’ और जीवन के वरदान मांगे जाते हैं। संसार बहुत सुन्दर है, इसी में बार-बार जन्म लेने की अभीप्सा है। स्वर्ग और नर्क यहीं भोगना चाहते हैं— हर मृत्यु से गुजरते नये जीवन-जन्म की आकांक्षा। अब इसमें जो देवसृष्टि है— वह सहचर देवताओं और मातृशक्तियों की है। यह व्यवहार का जगत है, जिसमें जीते-करते जीवन का जो अनुभव मनुष्य को सिखाता है— वही ‘ज्ञान’ है। इसी से लोक की संस्कृति और लोक की धार्मिकता रची जाती है। एक अर्थ में यह ‘धार्मिकता’ भी ‘संस्कृति’ अधिक है धर्म कम। इसी कारण लोक के धर्म के देवता मनुष्य के साथ धरती पर साथ रहते सहचर अधिक हैं, इन देवताओं और शक्तियों से लोक की संस्कृति रचना का अधिकांश निर्मित हुआ है। ‘लोक’ को ‘गोपाल’ और ‘हलधर’ एक साथ चाहिये। पूजा के लिए अपनी कर्मभूमि का एक ‘गोवर्धन’ भी। अपने गाँव की रक्षा के लिए एक क्षेत्रपाल चाहिये था और बाल-बच्चेदार गृहस्थ भगवान। यहाँ तक कि उसे अपने जैसे मनुष्यों के बीच से भी कुछ देवता चाहिये थे, उसमें वीरता, उदात्त और किसी बड़े मूल्य के लिए उत्सर्ग करने वाले अपने बीच के लोगों को ही पहिले ‘चरित’ बना दिया और कुछ सदियों बाद आने वाली पीढ़ियों ने इन ‘मनुष्य चरितों’ को अपना देवता बना लिया। जैसे लोक यह घोषणा कर रहा हो ‘देवत्व’ और ‘दिव्यता’ मनुष्य का पुरुषार्थ भी हो सकता है— अगर हम दिव्यता और पवित्रता से देवों और मातृशक्तियों से दूर जा पड़े हैं, पृथक हो गये हैं तो क्या हुआ, हम अपने आपसे ही देवत्व की एक यात्रा शुरू कर सकते हैं। इन देवताओं का कोई पुराण नहीं होगा, जिसमें उनकी कथा लिखी गई हो, कोई और स्वर्ग नहीं होगा, जिसमें वे ऐश्वर्यपूर्वक अजर-अमर होकर रहते हों। वे देवता वाचिक होंगे मनुष्यों जैसे और धरती ही उनका भी घर होगा। बिना अजर-अमर हुए ये देव मनुष्य के जीवन की अमरता तक उसके साथ चलते रहेंगे।

—कपिल तिवारी